श्रीमद् भागवत का यह सार
भगवद् भक्ति ही आधार

श्रीमद्भागवत रसिक कुटुंब

UG- 11.17 तृतीय सोपान

स्व धाम प्रस्थान को देखो हो रहे श्रीकृष्ण तैयार ।
उद्‌धृत किए उद्धव समक्ष अद्‌भुत अनमोल उद्‌गार ।।

नारायणं(न्) नमस्कृत्य, नरं(ञ्) चैव नरोत्तमम्।
देवीं(म्) सरस्वतीं(वँ) व्यासं(न्), ततो जयमुदीरयेत्

नामसङ्कीर्तनं(यँ) यस्य, सर्वपापप्रणाशनम्।
प्रणामो दुःखशमनस्, तं(न्) नमामि हरिं(म्) परम्

श्रीमद्भागवतमहापुराणम्

एकादशः स्कन्धः

॥ अथ सप्तदशोऽध्यायः ॥

उद्धव उवाच

यस्त्वयाभिहितः(फ्) पूर्वं(न्), धर्मस्त्वद्भक्तिलक्षणः ।
वर्णाश्रमाचारवतां(म्), सर्वेषां(न्) द्विपदामपि ॥ 1॥

उद्धव जी ने कहा-आपने पहले वर्णाश्रम-धर्म का पालन करने वालों के लिये और सामान्यतः मनुष्यमात्र के लिये उस धर्म का उपदेश किया था, जिससे आपकी भक्ति प्राप्त होती है।

यथानुष्ठीयमानेन, त्वयि भक्तिर्नृणां(म्) भवेत् ।
स्वधर्मेणारविन्दाक्ष, तत् समाख्यातुमर्हसि ॥ 2॥

हे कमलनयन श्रीकृष्ण! अब आप कृपा करके यह बतलाइए कि मनुष्य किस प्रकार से अपने धर्म का अनुष्ठान करे, जिससे आपके चरणों की भक्ति उसे प्राप्त हो जाये

पुरा किल महाबाहो, धर्मं(म्) परमकं(म्) प्रभो ।

यत्तेन हं(म्)सरूपेण, ब्रह्मणेऽभ्यात्थ माधव ॥ 3॥

प्रभो! महाबाहु माधव! पहले आपने हंसरूप से अवतार ग्रहण करके ब्रह्मा जी को अपने परमधर्म का उपदेश किया था।

स इदानीं(म्) सुमहता, कालेनामित्रकर्शन ।

न प्रायो भविता मर्त्य- लोके प्रागनुशासितः ॥ 4॥

रिपुदमन! बहुत समय बीत जाने के कारण वह इस समय मर्त्यलोक में प्रायः नहीं-सा रह गया है, क्योंकि आपको उसका उपदेश किये बहुत-दिन हो गये हैं।

वक्ता कर्ताविता नान्यो, धर्मस्याच्युत ते भुवि ।

सभायामपि वैरिञ्च्यां(यँ), यत्र मूर्तिधराः(ख्) कलाः ॥ 5॥

अच्युत! पृथ्वी में तथा ब्रह्मा की उस सभा में भी, जहाँ सम्पूर्ण वेद मूर्तिमान् होकर विराजमान रहते हैं, आपके अतिरिक्त ऐसा कोई भी नहीं है, जो आपके इस धर्म का प्रवचन, प्रवर्तन अथवा संरक्षण कर सके।

कर्त्रावित्रा प्रवक्त्रा च, भवता मधुसूदन ।

त्यक्ते महीतले देव, विनष्टं(ङ्) कः(फ्) प्रवक्ष्यति ॥ 6॥

इस धर्म के प्रवर्तक, रक्षक और उपदेशक आप ही हैं। आपने पहले जैसे मधु दैत्य को मारकर वेदों की रक्षा की थी, वैसे ही अपने धर्म की भी रक्षा कीजिये। स्वयंप्रकाश परमात्मन्! जब आप पृथ्वी तल से अपनी लीला संवरण कर लेंगे, तब तो इस धर्म का लोप ही हो जायेगा तो फिर उसे कौन बतावेगा ?

तत्त्वं(न्) नः(स्) सर्वधर्मज्ञ, धर्मस्त्वद्भक्तिलक्षणः ।

यथा यस्य विधीयेत, तथा वर्णय मे प्रभो ॥ 7॥

आप समस्त धर्मों के मर्मज्ञ हैं; इसलिये प्रभो! आप उस धर्म का वर्णन कीजिये, जो आपकी भक्ति प्राप्त कराने वाला है। और यह भी बतलाइये कि किसके लिये उसका कैसा विधान है।

श्रीशुक उवाच

इत्थं(म्) स्वभृत्यमुख्येन, पृष्टः(स्) स भगवान् हरिः ।

प्रीतः(ह) क्षेमाय मर्त्यानां(न्), धर्मानाह सनातनान् ॥ 8॥

श्रीशुकदेव जी कहते हैं- परीक्षित! जब इस प्रकार भक्तशिरोमणि उद्धव जी ने प्रश्न किया, तब भगवान श्रीकृष्ण ने अत्यन्त प्रसन्न होकर प्राणियों के कल्याण के लिये उन्हें सनातन धर्मों का उपदेश दिया।

श्रीभगवानुवाच

धर्म्य एष तव प्रश्नो,नैः(श्)श्रेयसकरो नृणाम् ।

वर्णाश्रमाचारवतां(न्), तमुद्धव निबोध मे ॥ 9॥

भगवान श्रीकृष्ण ने कहा- प्रिय उद्धव! तुम्हारा प्रश्न धर्ममय है, क्योंकि इससे वर्णाश्रम धर्मी मनुष्यों को परम कल्याणस्वरूप मोक्ष की प्राप्ति होती है। अतः मैं तुम्हें उन धर्मों का उपदेश करता हूँ, सावधान होकर सुनो।

आदौ कृतयुगे वर्णो, नृणां(म्) हं(म्)स इति स्मृतः ।

कृत्यकृत्याः(फ्) प्रजा जात्या, तस्मात् कृतयुगं(वँ) विदुः ॥ 10॥

जिस समय इस कल्प का प्रारम्भ हुआ था और पहला सत्ययुग चल रहा था, उस समय सभी मनुष्यों का 'हंस' नामक एक ही वर्ण था। उस युग में सब लोग जन्म से ही कृतकृत्य होते थे; इसीलिये उसका एक नाम कृतयुग भी है।

वेदः(फ्) प्रणव एवाग्रे, धर्मोऽहं(वँ) वृषरूपधृक् ।

उपासते तपोनिष्ठा, हं(म्)सं(म्) मां(म्) मुक्तकिल्बिषाः ॥ 11॥

उस समय केवल प्रणव ही वेद था आर तपस्या, शौच, दया एवं सत्यरूप चार चरणों से युक्त मैं ही वृषभरूपधारी धर्म था। उस समय के निष्पाप एवं परम तपस्वी भक्तजन मुझ हंसस्वरूप शुद्ध परमात्मा की उपासना करते थे।

त्रेतामुखे महाभाग, प्राणान्मे हृदयात्त्रयी ।

विद्या प्रादुरभूत्तस्या, अहमासं(न्) त्रिवृन्मखः ॥ 12॥

परम भाग्यवान् उद्धव! सत्ययुग के बाद त्रेतायुग का आरम्भ होने पर मेरे हृदय से श्वास-प्रश्वास के द्वारा ऋग्वेद, सामवेद और यजुर्वेद रूप त्रयीविद्या प्रकट हुई और उस त्रयीविद्या से होता, अध्वर्यु और उद्गाता के कर्मरूप तीन भेदों वाले यज्ञ के रूप से मैं प्रकट हुआ।

विप्रक्षत्रियविट्शूद्रा, मुखबाहूरुपादजाः ।

वैराजात् पुरुषाज्जाता, य आत्माचारलक्षणाः ॥ 13॥

विराट् पुरुष के मुख से ब्राह्मण, भुजा से क्षत्रिय, जंघा से वैश्य और चरणों से शूद्रों की उत्पत्ति हुई। उनकी पहचान उनके स्वाभावानुसार और आचरण से होती है।

गृहाश्रमो जघनतो, ब्रह्मचर्यं(म्) हृदो मम ।

वक्षः(स्)स्थानाद् वने वासो, न्यासः(श्) शीर्षणि सं(म्)स्थितः ॥ 14॥

उद्धव जी! विराट् पुरुष भी मैं हूँ; इसलिये मेरे ही ऊरूस्थल से गृहस्थाश्रम, हृदय से ब्रह्मचर्याश्रम, वक्षःस्थल से वानप्रस्थानाश्रम और मस्तक से संन्यासश्रम की उत्पत्ति हुई है।

वर्णानामाश्रमाणां(ञ्) च, जन्मभूम्यनुसारिणीः ।

आसन् प्रकृतयो नृणां(न्), नीचैर्नीचोत्तमोत्तमाः ॥ 15॥

इन वर्ण और आश्रमों के पुरुषों के स्वभाव भी इनके जन्मस्थानों के अनुसार उत्तम, मध्यम और अधम हो गये। अर्थात् उत्तम स्थानों से उत्पन्न होने वाले वर्ण और आश्रमों के स्वभाव उत्तम और अधम स्थानों से उत्पन्न होने वालों के अधम हुए।

शमो दमस्तपः(श्) शौचं(म्), सन्तोषः(ह) क्षान्तिरार्जवम् ।

मद्भक्तिश्च दया सत्यं(म्), ब्रह्मप्रकृतयस्त्विमाः ॥ 16॥

शम, दम, तपस्या, पवित्रता, सन्तोष, क्षमाशीलता, सीधापन, मेरी भक्ति, द्या और सत्य-ये ब्राह्मण वर्ण के स्वभाव हैं।

तेजो बलं(न्) धृतिः(श्) शौर्यं(न्), तितिक्षौदार्यमुद्यमः ।

स्थैर्यं(म्) ब्रह्मण्यतैश्वर्यं(ङ्), क्षत्रप्रकृतयस्त्विमाः ॥ 17॥

तेज, बल, धैर्य, वीरता, सहनशीलता, उदारता, उद्योगशीलता, स्थिरता, ब्राह्मण-भक्ति और ऐश्वर्य-ये क्षत्रिय वर्ण के स्वभाव हैं।

आस्तिक्यं(न्) दाननिष्ठा च, अदम्भो ब्रह्मसेवनम् ।

अतुष्टिरर्थोपचयैर्- वैश्यप्रकृतयस्त्विमाः ॥ 18॥

आस्तिकता, दानशीलता, दम्भहीनता, ब्राह्मणों की सेवा करना और धन संचय से सन्तुष्ट न होना-ये वैश्य वर्ण के स्वभाव हैं।

शुश्रूषणं(न्) द्विजगवां(न्), देवानां(ञ्) चाप्यमायया ।

तत्र लब्धेन सन्तोषः(श्), शूद्रप्रकृतयस्त्विमाः ॥ 19॥

ब्राह्मण, गौ और देवताओं की निष्कपट भाव से सेवा करना और उसी से जो कुछ मिल जाये, उसमें सन्तुष्ट रहना-ये शूद्र वर्ण के स्वभाव हैं।

अशौचमनृतं(म्) स्तेयं(न्), नास्तिक्यं(म्) शुष्कविग्रहः ।

कामः(ख्) क्रोधश्च तर्षश्च, स्वभावोऽन्तेवसायिनाम् ॥ 20॥

अपवित्रता, झूठ बोलना, चोरी करना, ईश्वर और परलोक की परवा न करना, झूठमूठ झगड़ना और काम, क्रोध एवं तृष्णा के वश में रहना-ये अन्त्यजों के स्वभाव हैं।

अहिं(म्)सा सत्यमस्तेय- मकामक्रोधलोभता ।

भूतप्रियहितेहा च, धर्मोऽयं(म्) सार्ववर्णिकः ॥ 21॥

उद्धव जी! चारों वर्णों और चारों आश्रमों के लिये साधारण धर्म यह है कि मन, वाणी और शरीर से किसी की हिंसा न करें; सत्य पर दृढ़ रहें; चोरी न करें; काम, क्रोध तथा लोभ से बचें और जिन कामों के करने से समस्त प्राणियों की प्रसन्नता और उनका भला हो, वही करें।

द्वितीयं(म्) प्राप्यानुपूर्व्याज्- जन्मोपनयनं(न्) द्विजः ।

वसन् गुरुकुले दान्तो, ब्रह्माधीयीत चाहुतः ॥ 22॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य गर्भाधान आदि संस्कारों के क्रम से यज्ञोपवीत संस्काररूप द्वितीय जन्म प्राप्त करके गुरुकुल में रहे और अपनी इन्द्रियों को वश में रखे। आचार्य के बुलाने पर वेद का अध्ययन करे और उसके अर्थ का भी विचार करे।

मेखलाजिनदण्डाक्ष- ब्रह्मसूत्रकमण्डलून् ।

जटिलोऽधौतदद्वासोऽ- रक्तपीठः(ख्) कुशान् दधत् ॥ 23॥

मेखला, मृगचर्म, वर्ण के अनुसार दण्ड, रुद्राक्ष की माला, यज्ञोपवीत और कमण्डलु धारण करे। सिर पर जटा रखे, शौकीनी के लिये दाँत और वस्त्र न धोवे, रंगीन आसन पर न बैठे और कुश धारण करे।

स्नानभोजनहोमेषु, जपोच्चारे च वाग्यतः ।

नच्छिन्द्यान्नखरोमाणि, कक्षोपस्थगतान्यपि ॥ 24॥

स्नान, भोजन, हवन, जप और मल-मूत्र त्याग के समय मौन रहे और कक्ष तथा गुप्तेन्द्रिय के बाल और नाखूनों को कभी न काटे।

रेतो नावकिरेज्जातु, ब्रह्मव्रतधरः(स्) स्वयम् ।

अवकीर्णेऽवगाह्याप्सु, यतासुस्त्रिपदीं(ञ्) जपेत् ॥ 25॥

पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करे। स्वयं तो कभी वीर्यपात करे ही नहीं। यदि स्वप्न आदि में वीर्य स्खलित हो जाये, तो जल में स्नान करके प्राणायाम करे एवं गायत्री का जप करे।

अग्न्यर्काचार्यगोविप्र- गुरुवृद्धसुराञ्छुचिः ।

समाहित उपासीत, सन्ध्ये च यतवाग् जपन् ॥ 26॥

ब्रह्मचारी को पवित्रता के साथ एकाग्रचित्त होकर अग्नि, सूर्य, आचार्य, गौ, ब्राह्मण, गुरु, वृद्धजन और देवताओं की उपासना करनी चाहिये तथा सायंकाल और प्रातःकाल मौन होकर संध्योपासन एवं गायत्री का जप करना चाहिये।

आचार्यं(म्) मां(वँ) विजानीयान्- नावमन्येत कर्हिचित् ।

न मर्त्यबुद्ध्यासूयेत, सर्वदेवमयो गुरुः ॥ 27॥

आचार्य को मेरा ही स्वरूप समझे, कभी उनका तिरस्कार न करे। उन्हें साधारण मनुष्य समझकर दोषदृष्टि न करे; क्योंकि गुरु सर्वदेवमय होता है।

सायं(म्) प्रातरुपानीय, भैक्ष्यं(न्) तस्मै निवेदयेत् ।

यच्चान्यदप्यनुज्ञात- मुपयुं(ञ्)जीत सं(यँ)यतः ॥ 28॥

सायंकाल और प्रातःकाल दोनों समय जो कुछ भिक्षा में मिले, वह लाकर गुरुदेव के आगे रख दे। केवल भोजन ही नहीं, जो कुछ हो सब। तदनन्तर उनके आज्ञानुसार बड़े सयम से भिक्षा आदि का यथोचित उपयोग करे।

शुश्रूषमाण आचार्यं(म्), सदोपासीत नीचवत् ।

यानशय्यासनस्थानैर्- नातिदूरे कृतां(ञ्)जलिः ॥ 29॥

आचार्य यदि जाते हों तो उनके पीछे-पीछे चले, उनके सो जाने के बाद बड़ी सावधानी से उनसे थोड़ी दूर पर सोवे। थके हो, तो पास बैठकर चरण दबावे और बैठे हों, तो उनके आदेश की प्रतीक्षा में हाथ जोड़कर पास में ही खड़ा रहे। इस प्रकार अत्यन्त छोटे व्यक्ति की भाँति सेवा-शुश्रूषा के द्वारा सदा-सर्वदा आचार्य की आज्ञा में तत्पर रहे।

एवं(वँ)वृत्तो गुरुकुले, वसेद् भोगविवर्जितः ।

वि*द्या समाप्यते यावद्, बि*भ्रद् व्रतमख*ण्डितम् ॥ 30॥

जब तक विद्याध्ययन समाप्त न हो जाये, तब तक सब प्रकार के भोगों से दूर रहकर इसी प्रकार गुरुकुल में निवास करे और कभी अपना ब्रह्मचर्य व्रत खण्डित न होने दे।

य*द्यसौ छ*न्दसां(लँ) लोक- मारोक्ष्यन् ब्रह्मवि*ष्टपम् ।

गुरवे वि*न्यसेद् देहं(म्), स्वाध्यायार्थं(म्) बृहद्व्रतः ॥ 31 ॥

यदि ब्रह्मचारी का विचार हो कि मैं मूर्तिमान् वेदों के निवासस्थान ब्रह्मलोक में जाऊँ, तो उसे आजीवन नैष्ठिक ब्रह्मचर्य-व्रत ग्रहण कर लेना चाहिये और वेदों के स्वाध्याय के लिये अपना सारा जीवन आचार्य की सेवा में ही समर्पित कर देना चाहिये।

अ*ग्नौ गुरावात्मनि च, सर्वभूतेषु मां(म्) परम् ।

अपृथ*ग्धीरुपासीत*, ब्रह्मवर्चस्व्यक*ल्मषः ॥ 32॥

ऐसा ब्रह्मचारी सचमुच ब्रह्मतेज से सम्पन्न हो जाता है और उनके सारे पाप नष्ट हो जाते हैं। उसे चाहिये कि अग्नि, गुरु, अपने शरीर और समस्त प्राणियों में मेरी ही उपासना करे और यह भाव रखे कि मेरे तथा सबके हृदय में एक ही परमात्मा विराजमान हैं।

स्त्रीणां(न्) निरीक्षण*स्पर्श- सं(लँ)लापक्ष्वेलनादिकम् ।

प्राणिनो मिथुनीभूता- नगृह*स्थोऽग्रतस्त्यजेत् ॥ 33॥

ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ और संन्यासियों को चाहिये कि वे स्त्रियों को देखना, स्पर्श करना, उनसे बातचीत या हँसी-मसखरी आदि करना दूर से ही त्याग दें; मैथुन करते हुए प्राणियों पर तो दृष्टिपात तक न करें।

शौचमाचमनं(म्) स्नानं(म्), सन्ध्योपासनमार्जवम् ।

तीर्थसेवा जपोऽस्पृ*श्या- भक्ष्यासं(म्)भाष्यवर्जनम् ॥ 34॥

प्रिय उद्धव! शौच, आचमन, स्नान, संध्योपासन, सरलता, तीर्थसेवन, जप, अस्पृश्यों को न छूना, अभक्ष्य वस्तुओं को न खाना और जिनसे बोलना नहीं चाहिये उनसे न बोलना। ये नियम सबके लिये हैं।

सर्वाश्रम*प्रयु*क्तोऽयं(न्), नियमः(ख्) कुलन*न्दन ।

म*द्भावः(स्) सर्वभूतेषु, मनोवाक्कायसं(यँ)यमः ॥ 35॥

समस्त प्राणियों में मुझे ही देखना, मन, वाणी और शरीर का संयम-यह ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यासी-सभी के लिये एक-सा नियम है।

एवं(म्) बृहद् व्रतधरो, ब्राह्मणोऽग्निरिव* ज्वलन् ।

म*द्भ*क्त*स्तीव्रतपसा, द*ग्धकर्माशयोऽमलः ॥ 36॥

नैष्ठिक ब्रह्मचारी ब्राह्मण इन नियमों का पालन करने से अग्नि के समान तेजस्वी हो जाता है। तीव्र तपस्या के कारण उसके कर्म-संस्कार भस्म हो जाते हैं, अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है और वह मेरा भक्त होकर मुझे प्राप्त कर लेता है।

अथानन्तरमावेक्ष्यन्, यथा जिज्ञासितागमः ।

गुरवे दक्षिणां(न्) दत्त्वा, स्नायाद् गुर्वनुमोदितः ॥ 37॥

प्यारे उद्धव! यदि नैष्ठिक ब्रह्मचर्य ग्रहण करने की इच्छा न हो-गृहस्थाश्रम में प्रवेश करना चाहता हो, तो विधिपूर्वक वेदाध्ययन समाप्त करके आचार्य को दक्षिणा देकर और उनकी अनुमति लेकर समावर्तन-संस्कार करावे-स्नातक बनकर ब्रह्मचर्याश्रम छोड़ दे।

गृहं(वँ) वनं(वँ) वोपविशेत्, प्रव्रजेद् वा द्विजोत्तमः ।

आश्रमादाश्रमं(ङ्) गच्छेन्, नान्यथा मत्परश्चरेत् ॥ 38॥

ब्रह्मचारी को चाहिये कि ब्रह्मचर्य-आश्रम के बाद गृहस्थ अथवा वानप्रस्थ-आश्रम में प्रवेश करे। यदि ब्राह्मण हो तो संन्यास भी ले सकता है अथवा उसे चाहिये कि क्रमशः एक आश्रम से दूसरे आश्रम में प्रवेश करे। किन्तु मेरा आज्ञाकारी भक्त बिना आश्रम के रहकर अथवा विपरीत क्रम से आश्रम-परिवर्तन कर स्वेच्छाचार में प्रवृत्त हो।

गृहार्थी सदृशीं(म्) भार्या- मुद्वहेदजुगुप्सिताम् ।

यवीयसीं(न्) तु वयसा, तां(म्) सवर्णामनुक्रमात् ॥ 39॥

प्रिय उद्धव! यदि ब्रह्मचर्याश्रम के बाद गृहस्थाश्रम स्वीकार करना हो तो ब्रह्मचारी को चाहिये कि अपने अनुरूप एवं शास्त्रोक्त लक्षणों से सम्पन्न कुलीन कन्या से विवाह करे। वह अवस्था में अपने से छोटी और अपने ही वर्ण की होनी चाहिये। यदि कामवश अन्य वर्ण की कन्या से और विवाह करना हो तो क्रमशः अपने से निम्न वर्ण की कन्या से विवाह कर सकता है।

इज्याध्ययनदानानि, सर्वेषां(ञ्) च द्विजन्मनाम् ।

प्रतिग्रहोऽध्यापनं(ञ्) च, ब्राह्मणस्यैव याजनम् ॥ 40॥

यज्ञ-यागादि, अध्ययन और दान करने का अधिकार ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्यों को समान रूप से है परन्तु दान लेने, पढ़ाने और यज्ञ कराने का अधिकार केवल ब्राह्मणों को ही है।

प्रतिग्रहं(म्) मन्यमानस्- तपस्तेजोयशोनुदम् ।

अन्याभ्यामेव जीवेत, शिलैर्वा दोषदृक् तयोः ॥ 41॥

ब्राह्मण को चाहिये कि इन तीनों वृत्तियों में प्रतिग्रह अर्थात् दान लेने की वृत्ति को तपस्या, तेज और यश का नाश करने वाली समझकर पढ़ाने और यज्ञ कराने के द्वारा ही अपना जीवन-निर्वाह करे और यदि इन दोनों वृत्तियों में भी दोषदृष्टि हो-परावलम्बन, दीनता आदि दोष-दीखते हों-तो अन्न कटने के बाद खेतों में पड़े हुए दाने बीनकर ही अपने जीवन का निर्वाह कर ले।

ब्राह्मणस्य हि देहोऽयं(ङ्), क्षुद्रकामाय नेष्यते ।

कृच्छ्राय तपसे चेह, प्रेत्यानन्तसुखाय च ॥ 42॥

उद्धव! ब्राह्मण का शरीर अत्यन्त दुर्लभ है। यह इसलिये नही है कि इसके द्वारा तुच्छ विषय-भोग ही भोगे जायें। यह तो जीवन-पर्यन्त कष्ट भोगने, तपस्या करने और अन्त में अनन्त आनन्दस्वरूप मोक्ष की प्राप्ति करने के लिये है।

शिलोञ्छवृत्त्या परितुष्टचित्तो,

धर्मं(म्) महान्तं(वँ) विरजं(ञ्) जुषाणः ।

मय्यर्पितात्मा गृह एव तिष्ठन्,

नातिप्रसक्तः(स्) समुपैति शान्तिम् ॥ 43॥

जो ब्राह्मण घर में रहकर अपने महान् धर्म का निष्काम भाव से पालन करता है और खेतों में तथा बाजारों में गिरे-पड़े दाने चुनकर सन्तोषपूर्वक अपने जीवन का निर्वाह करता है, साथ ही अपना शरीर, प्राण, अन्तःकरण और आत्मा मुझे समर्पित कर देता है और कहीं भी अत्यन्त आसक्ति नहीं करता, वह बिना संन्यास लिये भी परमशान्तिस्वरूप परमपद प्राप्त कर लेता है।

समुद्धरन्ति ये विप्रं(म्), सीदन्तं(म्) मत्परायणम् ।

तानुद्धरिष्ये नचिरा- दापद्भ्यो नौरिवार्णवात् ॥ 44॥

जो लोग विपत्ति में पड़े कष्ट पा रहे मेरे भक्त ब्राह्मण को विपत्तियों से बचा लेते हैं, उन्हें मैं शीघ्र ही समस्त आपत्तियों से उसी प्रकार बचा लेता हूँ, जैसे समुद्र में डूबते हुए प्राणी को नौका बचा लेती है।

सर्वाः(स्) समुद्धरेद् राजा, पितेव व्यसनात् प्रजाः ।

आत्मानमात्मना धीरो, यथा गजपतिर्गजान् ॥ 45॥

राजा पिता के समान सारी प्रजा का कष्ट से उद्धार करे-उन्हें बचावे, जैसे गजराज दूसरे गजों की रक्षा करता है और धीर होकर स्वयं अपने-आपसे अपना उद्धार करे।

एवं(वँ)विधो नरपतिर्- विमानेनार्कवर्चसा ।

विधूयेहाशुभं(ङ्) कृत्स्न- मिन्द्रेण सह मोदते ॥ 46॥

जो राजा इस प्रकार प्रजा की रक्षा करता है, वह सारे पापों से मुक्त होकर अन्त समय में सूर्य के समान तेजस्वी विमान पर चढ़कर स्वर्गलोक में जाता है और इन्द्र के साथ सुख भोगता है।

सीदन् विप्रो वणिग्वृत्त्या, पण्यैरेवापदं(न्) तरेत् ।

खड्गेन वाऽऽपदाक्रान्तो, न श्ववृत्त्या कथं(ञ्)चन ॥ 47॥

यदि ब्राह्मण अध्यापन अथवा यज्ञ-यागादि से अपनी जीविका न चला सके, तो वैश्य-वृत्ति का आश्रय ले ले, और जब-तक विपत्ति दूर न हो जाये तब तक करे। यदि बहुत बड़ी आपत्ति का सामना करना पड़े तो तलवार उठाकर क्षत्रियों की वृत्ति से अपना काम चला ले, परन्तु किसी भी अवस्था में नीचों की सेवा-जिसे 'श्वानवृत्ति' कहते हैं-न करे।

वैश्यवृत्त्या तु राजन्यो, जीवेन्मृगययाऽऽपदि ।

चरेद् वा विप्ररूपेण, न श्ववृत्त्या कथं(ञ्)चन ॥ 48॥

इसी प्रकार यदि क्षत्रिय भी प्रजापालन आदि के द्वारा अपने जीवन का निर्वाह न कर सके तो वैश्यवृत्ति व्यापर आदि कर ले। बहुत बड़ी आपत्ति हो तो शिकार के द्वारा अथवा विद्यार्थियों को पढ़ाकर अपनी आपत्ति के दिन काट दे, परन्तु नीचों की सेवा, 'श्वानवृत्ति' का आश्रय कभी न ले।

शूद्रवृत्तिं(म्) भजेद् वैश्यः(श्), शूद्रः(ख्) कारुकटक्रियाम् ।

कृच्छ्रान्मुक्तो न गर्ह्येण, वृत्तिं(ल्ँ) लिप्सेत कर्मणा ॥ 49॥

वैश्य भी आपत्ति के समय शूद्रों की वृत्ति सेवा से अपना जीवन-निर्वाह कर ले और शूद्र चटाई बनाने आदि कारूवृत्ति का आश्रय ले ले; परन्तु उद्धव! ये सारी बातें आपत्ति काल के लिये ही हैं। आपत्ति का समय बीत जाने पर निम्न वर्णों की वृत्ति से जीविकोपार्जन करने का लोभ न करे।

वेदाध्यायस्वधास्वाहा- बल्यन्नाद्यैर्यथोदयम् ।

देवर्षिपितृभूतानि, मद्रूपाण्यन्वहं(य्ँ) यजेत् ॥ 50॥

गृहस्थ पुरुष को चाहिये कि वेदाध्ययनरूप ब्रह्मयज्ञ, तर्पणरूप पितृयज्ञ, हवनरूप देवयज्ञ, कालबलि आदि भूतयज्ञ और अन्नदानरूप अतिथियज्ञ आदि के द्वारा मेरे स्वरूपभूत ऋषि, देवता, पितर, मनुष्य एवं अन्य समस्त प्राणियों की यथाशक्ति प्रतिदिन पूजा करता रहे।

यदृच्छयोपपन्नेन, शुक्लेनोपार्जितेन वा ।

धनेनापीडयन् भृत्यान्, न्यायेनैवाहरेत् क्रतून् ॥ 51॥

गृहस्थपुरुष अनायास प्राप्त अथवा शास्त्रोक्त रीति से उपार्जित अपने शुद्ध धन से अपने भृत्य, आश्रित प्रजाजन को किसी प्रकार का कष्ट न पहुँचाते हुए न्याय और विधि के साथ ही यज्ञ करे।

कुटुम्बेषु न सज्जेत, न प्रमाद्येत् कुटुम्ब्यपि ।

विपश्चिन्नश्वरं(म्) पश्ये- ददृष्टमपि दृष्टवत् ॥ 52॥

प्रिय उद्धव! गृहस्थपुरुष कुटुम्ब में आसक्त न हो। बड़ा कुटुम्ब होने पर भी भजन प्रमाद न करे। बुद्धिमान पुरुष को यह बात समझ लेनी चाहिये कि जैसे इन लोक की सभी वस्तुएँ नाशवान् हैं, वैसे ही स्वर्गादि परलोक के भोग भी नाशवान् ही हैं।

पुत्रदाराप्तबन्धूनां(म्), सं(ङ्)गमः(फ्) पान्थसं(ङ्)गमः ।

अनुदेहं(व्ँ) वियन्त्येते, स्वप्नो निद्रानुगो यथा ॥ 53॥

यह जो स्त्री-पुत्र, भाई-बन्धु और गुरुजनों का मिलना-जुलना है, यह वैसे ही है, जैसे किसी प्याऊ पर कुछ बटोही इकट्ठे हो गये हों। सबको अलग-अलग रास्ते जाना है। जैसे स्वप्न नींद टूटने तक ही रहता है, वैसे ही इन मिलने-जुलने वालों का सम्बन्ध भी बस, शरीर के रहने तक ही रहता है; फिर तो कौन किसको पूछता है।

इत्थं(म्) परिमृशन्मुक्तो, गृहेष्वतिथिवद् वसन् ।

न गृहैरनुबध्येत, निर्ममो निरहं(ङ्)कृतः ॥ 54॥

गृहस्थ को चाहिये कि इस प्रकार विचार करके घर-गृहस्थी में फँसे नहीं, उसमें इस प्रकार अनासक्त भाव से रहे, मानो कोई अतिथि निवास कर रहे। जो शरीर आदि में अहंकार और घर आदि में ममता नहीं करता, उसे घर-गृहस्थी के फंदे बाँध नहीं सकते।

कर्मभिर्गृहमेधीयै- रिष्ट्वा मामेव भक्तिमान् ।

तिष्ठेद् वनं(वँ) वोपविशेत्, प्रजावान् वा परिव्रजेत् ॥ 55॥

भक्तिमान् पुरुष गृहस्थोचित शास्त्रोक्त कर्मों के द्वारा मेरी आराधना करता हुआ घर में ही रहे, अथवा यदि पुत्रवान् हो तो वानप्रस्थ आश्रम में चला जाये या संन्यासाश्रम स्वीकार कर ले।

यस्त्वासक्तमतिर्गेहे, पुत्रवित्तैषणातुरः ।

स्त्रैणः(ख्) कृपणधीर्मूढो, ममाहमिति बध्यते ॥ 56॥

प्रिय उद्धव जो लोग एस प्रकार का गृहस्थ जीवन न बितालकर घर गृहस्थी में ही आसक्त हो जाते है स्त्री, पुत्र और धनकी कामनाओं में फँसकर हाय हाय करते रहते और मूढ़तावश स्त्रीलम्पट और कपण होकर मैं मेरे के फेर में पड़ जाते हैं, वे बंध जाते हैं।

अहो मे पितरौ वृद्धौ, भार्या बालात्मजाऽऽत्मजाः ।

अनाथा मामृते दीनाः(ख्), कथं(ञ्) जीवन्ति दुःखिताः ॥ 57 ॥

वे सोचते हैं- 'हाय हाय। मेरे माँ-बाप बूढ़े हो गये, पत्नी के बाल-बच्चे अभी छोट-छोटे हैं, मेरे न रहने पर ये दीन, अनाथ और दुःखी हो जायेंगे। फिर इनका जीवन कैसे रहेगा ?

एवं(ङ्) गृहाशयाक्षिप्त- हृदयो मूढधीरयम् ।

अतृप्तस्ताननुध्यायन्, मृतोऽन्धं(वँ) विशते तमः ॥ 58॥

इस प्रकार घर गृहस्थी की वासना से जिसका चित्त विक्षिप्त हो रहा है, वह मूढ़ बुद्धिपुरुष विषय भोगों से कभी तृप्त नहीं होता। उन्हीं में उलझ कर आपना जीवन खो बैठता है और मर कर घोर तमोमय नरक में जाता है।

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहं(म्)स्यां(म्)

सं(म्)हितायामेकादशस्कन्धे सप्तदशोऽध्यायः ॥ 17॥

ॐ पूर्णमदः(फ्) पूर्णमिदं(म्)पूर्णात्पूर्णमुदच्यते

पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

ॐ शान्तिः(श्)शान्तिः(श्)शान्तिः ॥